अङ्क-२५
जनवरी-जून २०१५

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

वैदिकभाषा-कृत्रिम अथवा व्यावहारिक

विश्व बन्धु

प्रस्तुत शोध-पत्र वैदिकभाषा के अध्ययन की प्रासङ्गिकता को व्याख्यात करता है। शोध-पत्र का उद्देश्य वैदिकभाषा के आधार पर इस धारणा का खण्डन करना है कि वेद किसी रूप में भी लोक-सामान्य से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। वैदिकभाषा में विद्यमान जन-सामान्य की भाषा से सम्बद्ध प्रवृत्तियाँ प्रकृत प्रतिज्ञा की पोषक हैं। सर्वप्रथम विचार किया गया है कि जिस समस्या को लेकर प्रस्तुत शोध प्रवृत्त है, उसका मूल क्या है ? तदुपरान्त व्यावहारिक भाषा तथा शास्त्रीय भाषा के भेद को स्पष्ट किया गया है। अन्त में वैदिकभाषा का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है॥

भारतीय मेधा का पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर आकलन करने वाले आत्ममानी-भारतवित् पाश्चात्यों की पक्षपातपूर्ण आलोचना के कारण मानों आज वेदविद्या निम्न वाक्य की ही सत्यता प्रामाणित कर रही है-

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम ॥"[१]

पाश्चात्यों का भारतीय-विद्या के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैया प्रमाणित करने के लिए "प्रो. मोनियर विलियम्स" के महान् ग्रन्थ "संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी" के आमुख में लिखा निम्न वाक्य ही पर्याप्त है, जो दर्शाता है कि पाश्चात्यों का भारत-भारती को जानने का क्या उद्देश्य था ?

"In explanation I must draw attention to the fact that **I am only the second occupant of the Boden chair, and that its founder, Colonel Boden, stated most explicitly in his will that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian religion**…. I have made it the chief aim of my professonal life to provide facilities for the translation of our sacred scriptures into Sanskrit, and for promotion of a better knowledge of the religion and customs of India, as the best key to a knowledge of the religious needs of our great Eastern dependency."[२]

---

[१] मनुस्मृति, २/११४

[२] *A Sanskrit-English Dictionary,*M.M.Williams, (second edition) (reprint), Marwah Publications, Delhi:1986

इसी पक्षपातपूर्ण रवैये के कारण कुछ पाश्चात्य विद्वान् वेद को यथार्थ रूप में प्रस्तुत न करके मात्र धार्मिक क्रिया-कलापों को सम्पन्न कराने वाली धर्म-पुस्तक के रूप में व्याख्यात करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में वेद एक भारतीय-वर्ग-विशेष (ऋत्विकों की) की सम्पत्ति मात्र थी अतः सामान्य भारतीय जन-जीवन से इसका दूर-दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। तदनुसार वैदिकभाषा कृत्रिम भाषा थी एवं चिन्तन एक कृत्रिम सभ्यता का दर्शन। पाश्चात्यों के इस अभिप्राय को निम्न कथनों के आलोक में देखें-

रुडॉल्फ राथ: "In India, the Veda takes the place of Homer; it comprised for the Brahmanical people their whole store of mental culture,"[३]

मैक्समूलर: "The first objection then against our treating the Veda as an historical document is that it is not truly national in its character, and does not represent the thoughts of the whole of the population of India, but only of a small minority, namely Brahmans, and not even of the whole class of Brahmans, but only of a small minority of them, namely of the professional Priests."[४]

मेअक्डानल्: "Within the Vedic language, in which the sacred literature of India is written, several stages can be distinguished…..Even in its earliest phase Vedic cannot be regarded as a popular tongue, but is rather an artificially archaic dialect, handed down from generation to the other with in the class of priestly singers"[५]

ऐसा नहीं कि वेदविषयक इस प्रकार के विचारों की साक्षी १९वीं तथा २०वीं शताब्दी ही मात्र रही। सुदूर यास्क के काल में भी वेद के विषय-क्षेत्र पर प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं परन्तु उन शङ्काओं का उद्देश्य वेद-विद्या से सम्बद्ध विचारों का परिमार्जन मात्र करना ही बोध होता है क्योंकि ऐसे विचारों को स्वतन्त्र ग्रन्थों अथवा स्वतन्त्र विषय के रूप में कदापि प्रस्तुत नहीं किया गया है। ग्रन्थकार स्वेच्छा से उक्त विचार को विषयान्तर के अङ्ग रूप में प्रस्तुत करता है। यथा यास्कीय निरुक्त में निर्वचनशास्त्र के प्रयोजनों के कथन-प्रसङ्ग में प्रस्तुत चर्चा दृष्टिगत होती है-

"अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते…..**यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सोऽनर्थका हि मन्त्रास्तदेतेनोपेक्षितव्यम्" <स्कन्द-महेश्वर की टीका "मन्त्राणां यदानर्थक्यं तदेतेनोपेक्षितव्यम्, एतेन नैरुक्तेनोपगम्येक्षितव्यम्। किं साध्वसाध्विति। तत्प्रत्याय्यः-अर्थः**

---

[३] P. 32, *Introduction to the Nirukta and the Literature related to it*, Rudolph Roth, (Trns. by) D. Mackichan, University of Bombay:1919

[४] P. 77, *India: What can it teach us ?,* Maxmullar, Munshiram Monoharlal, Delhi:1991(Indian edition)

[५] P. 20, *A history of Sanskrit literature*, A.A.Macdonall, Munshiram Monoharlal, Delhi:1972(third edition)

कर्मासमवायाभिप्रायेणाविद्यमानः, कर्मसमवाय्यर्थो येषां तेऽनर्थकाः, कर्मण्युच्चारणमात्रेणोपयुज्यन्ते नार्थप्रत्यायनेनेत्यर्थः">[६]

प्रस्तुत शोधपत्र उक्त धारणाओं को खण्डित करने के लिए वैदिकभाषा के प्रमुख अङ्ग स्वरों (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय) के आधार पर अर्थ में होने वाले परिवर्तन तथा वेद में पद-क्रम-विन्यास के आधार पर वैदिकभाषा का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करेगा तथा यह सिद्ध करने में वचनबद्ध है कि वेद जिस भाषा में अभिव्यक्त हुए या रचे गए वो भाषा जन-सामान्य की भाषा थी। वैदिक कवियों ने जन-सामान्य की भाषा में ही वेदाख्य अमरकाव्य की अभिव्यक्ति की । वैदिकभाषा में भासित होने वाली जन-सामान्य की भाषा की प्रवृत्तियाँ प्रस्तुत शोध का विषय-क्षेत्र हैं।

किसी भी साहित्यिक कृति का भाषापरक अध्ययन तत् साहित्य की भाषा का दो पक्षों से विचार करने से ही शुरू होता है – (१.) **प्राप्त साहित्य की भाषा नैत्यिक व्यवहार के लिए लोक में व्यवहृत होने वाली भाषा है अथवा (२.) प्राप्त साहित्य की भाषा केवल ग्रन्थ-रचना तक सीमित रह गई भाषा है।**[७] प्रथम प्रकार वाले साहित्य में वक्ता का ध्येय मात्र स्व-अभिप्राय को यथार्थ रूप में श्रोता के सम्मुख प्रकट करना होता है।[८] इसलिए जो भाषा लोक की व्यावहारिक भाषा होती है, उसके द्वारा अपने अभिप्राय को व्यक्त करने वाला वक्ता **पदावली का इस ढँग से प्रयोग करता है,** जिससे उसका वास्तविक अभिप्राय श्रोता समझ लें अर्थात् लोक-व्यवहार के समान पद-क्रम में परिवर्तन, विराम तथा पदों पर विशेष बलाबल के कारण अर्थ में आने वाले परिवर्तन को वक्ता विशेष रूप से अपने ध्यान में रखता है यथा **"रोको, मत जाने दो"** तथा **"रोको मत, जाने दो"** इन दोनों वाक्यों में अर्थ-भेद स्पष्ट है[९] । अतः इस प्रकार का साहित्य चाहे गद्यबद्ध, हो चाहे पद्यबद्ध , कवि अपनी अर्थ-विवक्षा को ही मात्र प्रधानता देता है और उसी के अनुकूल पद-विन्यास करने का प्रयत्न करता है, जो कि वाक्यस्थ पदों पर विशेष बलाबल का भी हेतु होता है जिससे अर्थ सूक्ष्मता से अभिव्यक्त हो पाता है। वैदिक कवि इस भाषिक प्रवृत्ति से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने पद्यबद्ध रचनाओं में भी पदों का इस प्रकार विन्यास किया जिससे स्वर तथा अर्थ का सूक्ष्म सम्बन्ध और अधिक उभरा । भारतीय वैयाकरणों ने वैदिकभाषा की इस विशेषता को निम्न प्रकार से अन्वाख्यात किया ;-

---

[६] निरुक्तम्, १/१५

[७] विशेष विचार हेतु द्रष्टव्य,"*वैदिक छन्दोमीमांसा,* अध्याय ५,युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत:२००९ (द्वि.सं.)"

[८] यथा महाभाष्यकार ने परिभाषित किया है, "अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते", अप्राप्त सन्दर्भ

[९] दोनों वाक्यों में दो क्रिया-पदों का प्रयोग है परन्तु प्रथम वाक्य में निषेधार्थ द्वितीय क्रिया-पद से सम्बद्ध है तथा द्वितीय वाक्य में प्रथम क्रिया-पद से। अतः विधेय में भेद है।

सिद्धान्त :"यथेति पादान्ते (फिट् सूत्र, ४/१७) < "यथा" पद जब पाद के अन्त में प्रयुक्त होता है, तब वह सर्वानुदात्त होता है>"

उदाहरण - "यदश्रमस्य केतवो (१), वि रश्मयो जनाँ अनु (२)। **भ्राजन्तो अग्नयो यथा** (३)॥" (ऋग्वेद, १/५०/३) **ऋक् का भावार्थ युधिष्ठिर मीमांसक के शब्दों में**[१०]"देखती हैं वैसे ही इस सूर्य की किरणें (१), विविध रूप से व्याप्त होने वाली लोगों को लक्षित करके (२), प्रकाशित हुई अग्नियाँ जैसे (३)॥"

निगमन - जहाँ "यथा" पद सर्वानुदात्त होने से उपमा "प्रकाशमान अग्नियाँ" अर्थ की वाक्यार्थ में गौणता है और उपमेय "सूर्य की किरणें"अर्थ की प्रधानता है अर्थात् वह विधेय है।

व्यवहार-दशा को छोडकर ग्रन्थ-निबन्धन तक सीमित रह गई भाषा (केवल शास्त्रीय भाषा) में निबद्ध साहित्य के अलग माप-दण्ड होते हैं। इस प्रकार के साहित्य में पदों का नवीन काव्य-सर्जन की भावना से विन्यास किया जाता है, जिससे वाक्य में पदों के एक विशेष क्रमवशात् पदों पर होने वाले बलाबल के कारण अभिव्यक्त होने वाला अर्थ ओझल हो जाता है। पद्यबद्ध ग्रन्थों में प्रस्तुत प्रवृत्ति अधिकाधिक देखने को मिलती है क्योंकि वहाँ पद-विन्यास की योजना छन्दोऽनुसारी हो जाती है और छन्द भी अक्षर-पाद की गणना पर आधारित न होकर लघु-गुरु आदि मात्राओं पर आधारित होते हैं अतः प्रयोजनाभाव में भी पर्याय-पदों का भूरिशः प्रयोग मिलता है।

(१.) वेद निःसन्देह उस काल की जन-सामान्य की भाषा में अभिव्यक्त हुआ काव्य है। इस प्रतिज्ञा का प्रत्यक्ष आधार निम्न ऋचा है-

"देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।[११]

सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु" [१२]

वेद-वाक् को लौकिक वाक् से अभिन्न दिखाता हुआ आचार्य यास्क का वचन प्रकृत प्रतिज्ञा की प्रामाणिकता व्याख्यात करता है-

"अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्" स्कन्द-महेश्वर की टीका "य एव लोके शब्दास्त एव मन्त्रेषु। ते यथैव लोके पदार्थान् प्रत्याययन्ति तथैव मन्त्रेष्वपि। ते पदार्था आकाङ्क्षितत्वात् योग्यत्वाच्च सन्निधेश्च संसृज्यमाना यथैव लोके वाक्यार्थं प्रत्याययन्ति तथैव मन्त्रेष्वपि। स वाक्यार्थप्रत्ययो यथैव लोक उपयुज्यते तथैव मन्त्रेष्वपि"[१३]

---

[१०] पृ. ८०, *वैदिक छन्दोमीमांसा,* अध्याय ५,युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपतः, २००९ (द्वि.सं.)

[११] "देवीं वाचमजनयन्त देवाः। तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति। व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च" (निरुक्तम्, ११/२९)

[१२] ऋग्वेद, ८/१००/११

[१३] निरुक्तम्, १/१६

(२.) वेद में अनेकों मन्त्रों या वाक्यों में पदों के द्वित्व करने की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है, जो कि विशुद्ध रूप से किसी प्रवाहशील भाषा की प्रवृत्ति ही हो सकती है, किसी कृत्रिम भाषा की नहीं। कृत्रिम भाषा में वाक्यस्थ पद के द्वित्व का हेतु भाषा का अलङ्करण हो सकता है अथवा प्रतिपाद्य को अभेद्य जामा पहनाने की प्रवृत्ति यथा-नव्य-नैयायिकों की भाषा। जबकि व्यावहारिक भाषा में वाक्य में विवक्षित पदार्थ की पौनःपुन्येन प्रवृत्ति (पदार्थविषयक'लगातार' चलने वाली प्रवृत्ति) तत्पदार्थवाचक पद के द्वित्व की हेतु हो सकती है, यथा सामान्यतः प्रयोग है **"सीधा-सीधा चलते रहो, घर आ जाएगा"** ; **"दूर-दूर तक वह नजर नहीं आ रहा है"**। पाणिनि ने संस्कृतभाषा में इस प्रकार की प्रवृत्ति को अनेकार्थों के अभिप्राय से बताया है, यथा "परेर्वर्जने" (८/१/५) < छोडने अर्थ कहने के लिए परि पद का द्वित्व होता है- **"परि परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः"** आज की व्यावहारिक भाषा में इसी को ऐसे कहते हैं **"इस जगह से परे-परे ही बद्दल बरसा"** ; "उपर्यध्यधसः सामीप्ये" (८/१/६) <समीपता अर्थ कहने के लिए उपरि, अधि, अधस् इनको द्वित्व होता है- "उपर्युपरि दुःखम्" इसी भाव को व्यावहार की पञ्जाबीभाषा में द्वित्व करके ऐसे कहा जाता है **"थोड़ा-थोड़ा दर्द हाजे भी है"** इत्यादि॥ इस प्रकार आधुनिक लोक-व्यवहार की भाषा के समान संस्कृतभाषा में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो इसको किसी काल में लोक-व्यवहार की भाषा होना सिद्ध करती है। वेद में पद के द्वित्वकरण की प्रवृत्ति से युक्त उदाहरण रूप में निम्न मन्त्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं-

"अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमं"[१४]**;**

"कदाचनः स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे । उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥"[१५] इत्यादि॥

(३.) कुछ मन्त्रों में पदों के स्वरानुसार अर्थ-निर्धारण करने की प्रवृत्ति विशुद्ध रूप से व्यावहारिक-भाषा की प्रवृत्ति ही है अर्थात् वाक्य में किसी पद-विशेष पर बल देने से वाक्यार्थ का अन्य होना या वाक्यार्थ में नूतन भाव को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य आना, व्यावहार की भाषा का ही लक्षण है। यथा व्यवहार में प्रचलित निम्न उदाहरण से स्पष्ट है- यज्ञदत्त (देवदत्त से)- "राम घर जा रहा है ।"

देवदत्त (यज्ञदत्त से)- "सच्ची, वो घर जा रहा है !"

सम्वाद में द्वितीय वाक्य में "सच्ची" पद तथा "क्रिया-पद" (जा रहा है) पर बल देने से वक्ता की विवक्षा आश्चर्यरूपा या प्रश्नरूपा है, ऐसा अधिगम होता है और वहीं प्रथम वाक्य में "क्रिया-पद" के सामान्यतः प्रयोगवशात् वक्ता की विवक्षा "रामकर्तृक-गृहकर्मक-गमन" मात्र बोध होती है।

---

[१४] ऋग्वेद, १/१/३

[१५] माध्यन्दिन संहिता, ३/३४

(३.१) वैदिक कवियों ने भाषा की प्रकृत प्रवृत्ति का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया तथा पाया कि स्वर पूरे पद का धर्म नहीं होता है अपितु पद के अवयवभूत ध्वनियों/वर्णों का ही धर्म होता है और वो भी मात्र अक्षरों का, अकेले व्यञ्जन वर्णों का नहीं। अतः वाक्य में पद के स्वरवशात् यहाँ भी अर्थ-परिवर्तन होता है, वह पद की अवयवभूत ध्वनियों में से किसी एक ध्वनि पर बल देने से ही होता है। उदाहरण स्वरूप **"होतृ"** प्रातिपदिक को लेते हैं। प्रस्तुत प्रातिपदिक के पद-रूप में प्रयोग में यदि आदिवर्ण "हो" पर बल हो तों **हवन-क्रिया को सम्पन्न करने वाला अर्थ के साथ-साथ** निम्नलिखित तीन धर्मों में से किसी एक धर्म का भी बोध होगा - **(१.) फल की आकाङ्क्षा बिना किए स्वभाव से ही क्रिया में प्रवृत्त होने वाला; (२.) स्वभाव के बिना भी अपना धर्म समझकर क्रिया में प्रवृत्त होने वाला; (३.) क्रिया को कुशलता से करने वाला।** और यदि "होतृ" प्रातिपदिक के प्रयोग में अन्तिम वर्ण "तृ" या "तृ के विभिन्न विभक्तियों में होने वाले विकारों यथा "ता"; "तृ"; "त्र" आदि" पर बल देते हैं तो मात्र "हवन-क्रिया को सम्पन्न करने वाला" अर्थ बोध होगा। पाणिनि आकृति की दृष्टि से एक-समान परन्तु अर्थ की दृष्टि से भिन्न-भिन्न इन दोनों पदों का विश्लेषण निम्न सूत्रों के द्वारा करते हैं-

आद्युदात्त "होतृ" प्रातिपदिक: "आक्रेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु" ;"तृन्" (३/२/१३४-३५)

अन्तोदात्त "होतृ" प्रातिपदिक "ण्वुल्तृचौ" (३/१/१३३); "कर्तरि कृत्" (३/४/६७)

आद्युदात्त "होतृ" प्रातिपदिक का शाकलसंहिता, माध्यन्दिनसंहिता, काण्वसंहिता, तैत्तिरीय-संहिता, काठकसंहिता, मैत्रायणीसंहिता, शौनकसंहिता में बहुलतया प्रयोग मिलता है परन्तु अन्तोदात्त "होतृ" प्रातिपदिक का प्रयोग मात्र माध्यन्दिनसंहिता, काण्वसंहिता, मैत्रायणीसंहिता में ही मिलता है।

(३.२) वेदकालीन भाषा-शास्त्र की यह विशेषता थी कि यह नियामन करता था कि पद्यबद्ध रचनाओं में पदों का इस प्रकार विन्यास किया जाए जिससे स्वर तथा अर्थ के सूक्ष्म सम्बन्ध में कोई व्याघात न हो। इस विन्यास का करण छन्दःशास्त्रसम्मत पाद-व्यवस्था है अतः मन्त्रान्तर्गत अवान्तरार्थों की योजना पाद-व्यवस्था के माध्यम से की गई।[१६] पाणिनि ने कुछ ऐसे सन्दर्भों का अन्वाख्यान भी किया है, यथा-

"अनुदात्तं सर्वमपादादौ" (८/१/१८) के अधिकार में "आमन्त्रितस्य च" (८/१/१९) अर्थात् पाद के मध्य या अन्त में स्थित सर्वोनुदात्त सुबन्त पद सम्बोधन-वाचक होता है। यथा **"देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवः"** (माध्यन्दिनसंहिता, १/१२)

[१६] "प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः।ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्ध्या प्रकल्पितः" (छन्दोऽनुक्रमणी, ८/१४)

"अनुदात्तं सर्वमपादादौ" (८/१/१८)> के अधिकार में "अङ्गात्प्रातिलोम्ये" (८/१/३३) अर्थात् पाद के मध्य या अन्त में स्थित प्रकृति स्वर वाला आख्यात पद "अङ्ग" पद के साथ मिलकर अनुकूल अर्थ भी देता है। यथा "**यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि**" (शाकलसंहिता, १/१/६) आदि॥

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि वैदिक भाषा एक कृत्रिम भाषा न थी बल्कि उस काल की जन-सामान्य की भाषा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही वेद है। अतः वेद किसी कृत्रिम सभ्यता, संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं बल्कि एक जीवित, लोक-सामान्य की संस्कृति के प्रतिरूप हैं। आज उस संस्कृति को जानने का एक मात्र सहारा वेद हैं । वेदों के अतिरिक्त उस काल का कोई भी स्रोत अथवा ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं हो रहा है। यही तथ्य वेदों के आधुनिक काल में अध्ययन की प्रासङ्गिकता को निरूपित करता है ।

विश्व बन्धु
शोध-छात्र,
विशिष्ट संस्कृत अध्ययन-केन्द्र,
जे.एन.यू.,नव देहली